Date of Submission: 9/4/2026
Date of Review: 30/4/2026
Date of Publication: August 2026

कुल्लू और शिमला जनपद की देव परम्परा एवं देव संस्थान में कोली समाज की भूमिका: निरंतरता और परिवर्तन

पवन कुमार*
प्रो. नारायण सिंह राव**

परिचय

आदिकाल से ही देवभूमि के रूप में अपनी अलग पहचान को बरकरार रखने वाला स्थान हिमाचल प्रदेश यूं ही इस नाम से नहीं जाना जाता बल्कि यहां का प्रत्येक जन उस देव शक्ति के प्रति अटूट श्रद्धा व विश्वास रखता है। देव शक्ति से हमारा अभिप्राय उस सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान सत्ता से है, जो समस्त जगत को ऊर्जा तथा संरक्षण प्रदान करती है। देव परमात्मा का वह स्वरूप है, जो जीवन देने वाला, अंतर्मन की पुकार सुनने वाला, संवाद करने वाला, इच्छावर प्रदान करने वाला, साथ यात्रा करने वाला तथा खुशी के क्षणों में आनंदित होने वाला, मार्गदर्शक और संरक्षक माना जाता है। धर्म का मार्ग देवता का लक्ष्य है। अनिष्टता स्वीकार नहीं है। हां, कुछ ऐसी शक्तियां हैं जिन्हें अपने हित के लिए पूजा जाता है। देवता उन्हें अपनी सीमा में रहने की सलाह देता है। उन शक्तियों से रक्षा भी करता है।[1]

प्रत्येक ऊँचे पर्वत-शिखरों, गहरी घाटियों, घने वन क्षेत्रों तथा गाँव-गाँव में देवता का निवास स्थान हैं। हिमाचल प्रकृति की क्रीड़ास्थली और देवताओं की निवास स्थली है। इसलिए इसे प्राकृतिक सौंदर्य की मूर्ति और दैव्यशक्ति की भूमि कहा गया है।[2] देव संस्कृति स्थानीय जनमानस की जीवन-पद्धति का प्रमुख आधार प्रस्तुत करती है। यहां वैदिक देवी-देवताओं यथा- शिव, ब्रह्मा, विष्णु, शक्ति आदि रूपों की उपासना लोकदेवताओं के रूप में की जाती है। प्राचीन ऋषियों - मुनियों, दिव्य महापुरुषों, प्राकृतिक शक्तियों, नाग, नारायण, वीर तथा जोगनियों आदि शक्तियों को भी स्थानीय देव परम्परा में ग्राम देवी-देवता, गढ़पति या फाटी के आराध्य देव रूप में पूजा जाता है। समूचे प्रदेश में इन देवताओं के पृथक मंदिर, देवालय और पूजा के स्थान विद्यमान हैं। इन मंदिरों

में प्रदेश की समृद्ध एवं अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर सुरक्षित है देव परम्परा की खास बात यह है कि यहां के देवता केवल मंदिरों में कैद नहीं, बल्कि उत्सवों के समय रथ या पालकी में सवार होकर अपनी प्रजा के बीच आते हैं।[3] देवता देवलुओं के कंधों पर विराजमान होकर यात्रा करते हैं। यह दृश्य अपने आप में देवता और स्थानीय जनों के मध्य गहरे संबंध को दर्शाता है।

देव शक्ति के साथ यह गहरा संबंध पूर्वजों के अनुभवों, शिक्षाओं तथा उनके अनुकरणीय आचरण के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता आया हैं यहाँ निवास कर रहे प्रत्येक जन में देवशक्ति के प्रति अटूट श्रद्धा एवं गहन आस्था हैं उसी के चलते कोई व्यक्ति विरला ही दृष्टिगोचर होता है, जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इससे संबद्ध ना रखता हो प्रत्येक व्यक्ति पारिवारिक संरचना के अनुरूप ही जन्म लेता है और उसी में पलकर बड़ा होता है। परिवार में पीढ़ियों से चली आ रही देव परंपरा के अनुरूप प्रत्येक कुल या वंश का आराध्य कुलदेवता होता है। कुल देवता की पूजा अर्चना पवित्र पर्वों, सक्रांतियों, विवाह एवं अन्य संस्कारों पर आवश्यक मानी जाती है। कुल देवता गोत्र से नहीं होता बल्कि यह पूर्वजों की परंपरा पर आधारित होता है।[4] कुलदेवता अपने निवास के लिए स्थान स्वयं चुनते हैं उसी निश्चित स्थान पर आकर सभी परिवारजन नतमस्तक होते हैं। समय के साथ-साथ कुल के विस्तार के परिणामस्वरूप विभिन्न सामाजिक-आर्थिक कारणों विशेषत: आजीविका, रोजगार एवं भूमि-सम्बन्धी आवश्यकताओं के चलते पारिवार के सदस्य भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाकर बस जाते हैं, जिससे नई पारिवारिक इकाइयों का निर्माण होता है, साथ ही परंपरागत मान्यताओं के अनुरूप इन सभी इकाइयों का अपनी मूल पारिवारिक जड़ों तथा कुलदेवता के प्रति संबंध निरंतर बना रहता है। फलत: अवसर प्राप्त होने पर परिवारजन अपने मूल निवास-स्थान पर उपस्थित होकर कुलदेवता के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए पारिवारिक एकात्मता को पुन:स्थापित करते हैं।

कुलदेवता की परंपरा के अनुरूप ही प्रत्येक स्थान का अपना एक स्थान-देवता भी होता है, जिसे उस स्थान पर निवास करने वाले समस्त जनसमूह के साथ-साथ वहाँ विद्यमान पेड़-पौधों एवं जीव-जंतुओं का संरक्षक माना जाता है। परंपरागत मान्यताओं के अनुसार स्थान-देवता का निवास किसी वृक्ष, बड़े शिलाखंड के नीचे या प्राकृतिक गुफा में देखने को मिलता है, साथ ही प्रत्येक प्राकृतिक जल स्रोत पर जल-देवता की उपस्थिति भी मान्य है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम में एक सर्वोच्च शक्ति विद्यमान होती है, जिसका अधिपत्य सभी स्थानीय दैवीय शक्तियां स्वीकार करती है। इस शक्ति को हम मुख्य ग्राम

देवता के रूप में मानते हैं।[5] ग्राम देवता की छत्र छाया में वहां निवास करने वाले प्रत्येक जन में पारस्परिक सहयोग, अनुशासन एवं सामाजिक सौहार्द्र बना रहता है। पहाड़ी शैली में निर्मित देवता जी का मंदिर ग्राम संरचना की केंद्रीय इकाई है जहाँ सर्व समाज किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ है। इसी गहरे जुड़ाव का एक महत्वपूर्ण अंग देवी-देवताओं की रथ-छत्र परंपरा है। यहाँ के देवी-देवता केवल मंदिर के गर्भगृह तक सीमित नहीं रहते, बल्कि रथ छत्र अथवा पालकी में विराजमान होकर समय-समय पर अपनी प्रजा के मध्य उपस्थित होते हैं और उनके साथ अपना सजीव संबंध बनाए रखते हैं। रथ छत्र में विराजमान होकर देवता अपने देवलुओं (देवताओं के अनुयायी) तथा पूरे साज बाज के साथ स्थानीय मेलों, *जातरों,* (देव शक्ति से मांगी गई मन्नत के पूरे होने पर उन्हें अपने निवास स्थान पर आमंत्रित करना जातर कहलाता है।) देवकार्यों, मेहमानी में, फाग एवं कुल्लू दशहरा को जाते हैं। रथ को विशिष्ट पद्धति से सजाया जाता है। रथ के अंदर का सांचा लकड़ी का बना होता है इसी सांचे पर देवता का *मोहरा* (मुख या मुखौटा) लगाया जाता है। रथ के ऊपरी भाग पर सुंदर चादर तथा निचले भाग में *शाड़ी* (रंग-बिरंगे कपड़ों की झालर) का प्रयोग होता है। सोने चाँदी के आभूषण पहनाये जाते हैं। रथ पर देवता के साथ चलने वाली अन्य शक्तियों के प्रतीक को दर्शाने वाले मोहरों को भी लगाया जाता है। बाल धारण करवाए जाते हैं। ये बाल चूरू (याक का ही एक प्रकार, याक से थोड़ा छोटा होता है एवं किन्नौर तथा लाहौल-स्पीती क्षेत्रों में पाया जाता है) के होते हैं। चूरू के बाल देखने में शिव की जटाओं के जैसे सुंदर, चमकीले और मुलायम होते हैं।[6] दो पतली, लंबी लकड़ियों को तराशकर उससे रथ को उठाया जाता है, जिन्हें स्थानीय भाषा में *जमाड़ी* कहा जाता है।



रथ छत्र में विराजमान माता कोयला केलाशनी

उक्त सुंदर श्रृंगार देवता जी को एक सजीव मानवीय स्वरूप प्रदान करता है। देव रथ के साथ अन्य पारंपरिक प्रतीक चिन्ह भी साथ चलते हैं जिसमें देव छड़ी, ध्वज, बड़ा फेरी छत्र, मोर पंख की बनी *चौंर* (चंवर), चूरू के बालों की बनी *धरमूठ* आदि अनेक प्रतीक उल्लेखनीय हैं। रथ या छत्र में सवार होकर जब देवता प्रस्थान करते हैं, तो

ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान स्वयं अपनी प्रजा से मिलने निकल पड़े हों। देव शक्ति का यह मानवीय स्वरुप केवल प्रतीकात्मक नहीं है, बल्कि इसके माध्यम से देवता और स्थानीय मानव समूह के मध्य आत्मीयता एवं पारस्परिक संबंधों की अनुभूति सुदृढ़ होती है। देवता को रथ में विधिवत् प्रतिष्ठित करने के उपरांत देवलू उन्हें अपने कंधों पर वहन कर स्थानीय जनसमुदाय के मध्य लाते हैं। पारंपरिक वाद्ययंत्रों की मधुर धुन पर देवता नृत्य करते हैं। मानवीय स्वभावों के अनुरूप अपनी खुशी, नाराजगी, भक्तों को आशीर्वाद, यात्रा के दौरान किस स्थान पर बैठना, किस रास्ते से यात्रा करनी यह सब बातें देवता स्वयं निर्देशित करते हैं।[7] हजारों श्रद्धालुओं की उपस्थिति में देव समागम का हिस्सा बनने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनुभव न केवल रोमांचकारी अपितु गहन आध्यात्मिक अनुभूति से परिपूर्ण होता है तथा जीवनपर्यंत अविस्मरणीय क्षणों का रूप धारण कर लेता है।

कुल्लू और शिमला जनपद देवी-देवताओं की समृद्ध परंपरा के लिए प्रसिद्ध हैं। अकेले कुल्लू जिले में ही 500 से अधिक देवता माने जाते हैं, जबकि छोटे देवताओं की संख्या इतनी अधिक है कि उसका अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। इस क्रम में बड़ा देवता, छोटा देवता, साल में एक बार पूजे जाने वाला देवता तथा छः मास में पूजे जाने वाले देवता भी सम्मिलित है। बड़े देवता के अंतर्गत आने वाले छोटे देवता, बड़े देवता का अनुसरण करते हैं। छोटे देवता, बड़े देवता की आज्ञा से काम करते हैं। इसलिए उनकी अपनी मर्यादाएं रहती है।[8] देव परंपरा के अंतर्गत प्रत्येक देवशक्ति का एक निश्चित भौगोलिक अधिकार-क्षेत्र रहता है वे एक देवता, दूसरे देवता के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करते हैं। जिसके अंतर्गत आने वाले ग्रामों एवं संबंधित स्थलों का निर्धारण पूर्वकाल से ही स्थानीय मान्यताओं के आधार पर सुनिश्चित है। उस निर्धारित भौगोलिक क्षेत्र के अंतर्गत संबंधित देवशक्ति का परंपरागत एक छत्र-शासन मान्य रहता है। एक देवता के सीमा-क्षेत्र की समाप्ति के उपरांत दूसरे देवता का क्षेत्र आरंभ हो जाता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस समूचे क्षेत्र का कोई भी भाग देवशक्ति के प्रभाव से अछूता नहीं है।[9] प्रत्येक स्थान पर किसी न किसी रूप में देव सत्ता की उपस्थिति एवं मान्यता विद्यमान है।

निश्चित भौगोलिक सीमाओं में स्थित होने के बावजूद देव-शक्तियों के मध्य पारस्परिक संबंध अत्यंत रोचक एवं अध्ययन योग्य प्रतीत होते हैं। मानवीय संबंधों की भांति देव-शक्तियों के मध्य भी बड़े भाई, छोटे भाई, भाई-बहन, पति-पत्नी तथा गुरु-शिष्य, धर्म भाई, धर्म बहन, माँ बेटे के सम्बन्ध आदि विविध रूपों में हमें देखने को मिलते

हैं। देवशक्तियों के मध्य विद्यमान ये संबंध केवल धार्मिक स्तर तक सीमित न रहकर उनसे सम्बंधित क्षेत्रों एवं वहाँ के स्थानीय जनमानस के मध्य पारस्परिक आत्मीयता, सामाजिक एकजुटता तथा सांस्कृतिक निरंतरता को सुदृढ़ करने का प्रभावी माध्यम सिद्ध होते हैं।[10] समय-समय पर विभिन्न देवकार्य, मेलों, जातर तथा अतिथि के रूप में निमंत्रण मिलने पर एक देवता का दूसरे देवता के क्षेत्र में जाना इन संबंधों की जीवंत अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। जब दोनों क्षेत्रों की स्थानीय जनता इन देव मिलनों की साक्षी बनती है, तब यह दृश्य पारस्परिक स्नेह एवं सांस्कृतिक आत्मीयता का प्रभावशाली प्रतीक बन जाता है। देवशक्तियों के मध्य इन संबंधों का प्रभाव सामान्य जनमानस पर भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, जिससे समाज में पारिवारिक संबंधों के प्रति सम्मान, संवेदनशीलता एवं सांस्कृतिक चेतना का विकास होता है। देव मिलन के समय देवता की खुशी व आनंद तथा बिछड़ते समय के वियोग से संबंधित भावनात्मक अभिव्यक्तियाँ भी स्थानीय समाज में गहरी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं। देव संबंधों से संबंधित विविध कथाएँ एवं लोक आख्यान पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित होते हुए स्थानीय इतिहास, परंपरा तथा सामाजिक सौहार्द की निरंतरता को संरक्षित करते हैं।

देव परंपरा के निर्वहन में किसी भी समुदाय अथवा सामाजिक इकाई के योगदान को बड़ा या छोटा आंकना न तो उपयुक्त है और न ही संभव। क्योंकि परंपरा के अनुरूप प्रत्येक घटक की अपनी विशिष्ट और अपरिहार्य भूमिका निर्धारित होती है जिसकी पूर्ति अन्य किसी इकाई द्वारा समान रूप से नहीं की जा सकती। हर एक देवकार्य सभी समाजों के सहयोग से पूर्ण होता है। पीढ़ीयों से चली आ रही परंपराओं के अनुरूप देव कार्य में जिसकी जो भूमिका तय हैं वह उसे पूर्ण निष्ठा के साथ निभाता आया है इन्हीं सब कार्यों में देवालय में होने वाली नित्य पूजा, देवरथ को सजाने और बडारने का कार्य, देवरथ को उठाने का कार्य, गूर की भूमिका, वाद्य यंत्रों का वादन करने का कार्य, देव गीतों का गायन करना, फेरी छात्र उठाना, देवालय एवं भंडार गृह का निर्माण और मरम्मत कार्य, सोने चांदी के मोहरे, आभूषण, छत्र का निर्माण करने का कार्य अलग अलग समाज के जन मिलकर करते है यह परिदृश्य अपने आप में समाज की विभिन्न इकाइयों को एक सूत्र में पिरोने वाली सशक्त सामाजिक-सांस्कृतिक एकता का परिचायक प्रतीत होता है।

इसी संदर्भ में देव परंपरा के संचालन, संरक्षण एवं संवर्धन में कोली समाज का स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिमालयी क्षेत्र में कोली समाज का इतिहास बहुत प्राचीन रहा है लाल चन्द प्रार्थी अपनी पुस्तक में लिखते हैं प्राचीन कुलूत से लेकर आज के

कुल्लू तक जो लोग युगों के उथल-पुथल से टकराते और जमाने की अत्याचारों से आंख-मिचोली करते हुए बच पाए हैं, वे यहां के कोली हैं।[11] प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक की यात्रा का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि कोली समाज ने सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में सक्रिय सहभागिता करते हुए अपनी भूमिका का निर्वहन किया है। देव परंपरा के अनुरूप इस समाज द्वारा संपादित विविध पारंपरिक दायित्व एवं कार्य न केवल इसकी आस्था, विश्वास, लगाव, समर्पण व प्रतिबद्धता को रेखांकित करते हैं अपितु स्थानीय सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में अपनी केंद्रीय भूमिका को भी स्पष्ट करते हैं। देव परंपरा के परिप्रेक्ष्य में कोली समाज द्वारा संपादित प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं-

गूर (माली) परंपरा

देव परंपरा में 'गूर' उस विशिष्ट व्यक्ति को कहा जाता है जिसमें लोकविश्वास के अनुसार देव शक्ति स्वयं प्रकट होकर जनसमुदाय के साथ संवाद स्थापित करती है। गूर देवता के प्रवक्ता के रूप में कार्य करते हुए श्रद्धालुओं द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों के समाधान, न्याय-संबंधी निवेदन, विभिन्न कार्यों के लिए मार्गदर्शन तथा शुभ-अशुभ संकेतों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है। गूर का चयन सामान्यत: देवता की इच्छा के अनुसार होता है और परंपरागत रूप से यह पूर्व-निर्धारित रहता है कि गूर किस समाज से, समाज में भी किस परिवार अथवा खानदान से होगा यह पीढ़ी दर पीढ़ी चला आ रहा क्रम निर्धारित करता है। मुख्य देवता के गूर को प्राय: गद्दी का गूर कहा जाता है। इसके अतिरिक्त देवता के साथ चलने वाली अन्य सहायक शक्तियाँ जैसे गण, वजीर आदि भी अपने-अपने पृथक गूरों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं।[12] इस प्रकार गूरों की नियुक्ति एक निश्चित परंपरागत क्रम के अंतर्गत होती है, जिसका निर्धारण स्वयं देवता द्वारा किया जाता है। प्रत्येक देवता की अपनी विशिष्ट उत्पत्ति गाथा, जय विजय का संघर्ष, आधिपत्य, चमत्कार, स्थापना, अधिकार-क्षेत्र तथा यात्राओं से संबंधित विवरण होते हैं, जिनका उद्घाटन गूर के माध्यम से ही किया जाता है। गूर के मुख से प्रकट होने वाली इस दैविक परंपरा-आधारित ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक वाचिक परंपरा को *देवभार्था* (जो देवता का इतिहास बताता है), गढ़ाई आदि नामों से जाना जाता है।[13] शिमला, कुल्लू, मंडी, चंबा, किन्नौर तथा लाहौल-स्पीति जैसे जनपदों में गूर द्वारा विधिपूर्वक देवभार्था का वाचन देव परंपरा का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है।

सामान्यत: गूर के रूप में चयनित व्यक्ति इस दायित्व का निर्वहन तब तक करता

है, जब तक उसमें देवशक्ति को धारण करने की शारीरिक सामर्थ्य एवं आध्यात्मिक क्षमता विद्यमान रहती है। लोकपरंपराओं के अनुसार जब गूर स्वयं यह अनुभव करने लगते है कि वह अब इस दैविक उत्तरदायित्व का समुचित निर्वहन करने में समर्थ नहीं है तब वह विधिपूर्वक देवता के समक्ष नतमस्तक होकर संवाद स्थापित करते है कि अब उन्हें दायित्व से मुक्त किया जाए। देवता की स्वीकृति प्राप्त होने के उपरांत उसे इस पद से मुक्त कर दिया जाता है कई बार देव-नियमों का पालन न करने की स्थिति में भी गूर को उत्तरदायित्व से मुक्त किया जा सकता है।[14] तत्पश्चात परंपरागत विधि-विधान के अनुसार अगले गूर के चयन की प्रक्रिया आरंभ की जाती है। इस प्रकार गूर पद की निरंतरता देव-आदेश, व्यक्तिगत सामर्थ्य तथा परंपरागत मान्यताओं के समन्वय से संचालित होती है गूर के रूप में चयनित होने के पश्चात व्यक्ति को अनेक धार्मिक एवं सामाजिक अनुशासनों का पालन करना आवश्यक होता है गूर के जीवन में कई तरह की वर्जनाएं हैं उसे नियमित व प्रतिबंधित जीवन जीना होता है अधिकतर देवता के गूर सिगरेट, तंबाकू नहीं पीते। गूर को लंबे बाल रखने होते हैं। पांव में जूता नहीं डालना होता है यहां तक कि कइयों को हल चलाना भी वर्जित है।[15]

इसके अतिरिक्त प्रत्येक संक्रांति, अनुष्ठान, देवकार्य, पर्व-त्योहार तथा यात्राओं के अवसर पर गूर की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है, क्योंकि देवता जनसमुदाय की समस्याओं के समाधान हेतु मुख्यत: उसी के माध्यम से संवाद स्थापित करते हैं। गूर के दायित्वों की व्यापकता को दृष्टिगत रखते हुए उसकी आजीविका की व्यवस्था स्थानीय समुदाय द्वारा सामूहिक रूप से सुनिश्चित की जाती है तथा देवता के कोष से भी उसे जीवन-निर्वाह हेतु आंशिक आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है। इस प्रकार देव परंपरा में गूर का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण एवं केंद्रीय माना जाता है। उल्लेखनीय है कि कोली समाज भी इस गूर परंपरा के निर्वहन में दीर्घकाल से सक्रिय भूमिका निभाता आया है तथा अनेक देवस्थानों पर इस समाज के सदस्य मुख्य गूर के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी जिम्मेदारियों का सफलतापूर्वक निर्वहन करते आये हैं।

गूर की टोपी पकड़ने का कार्य

देव परंपरा में गूर से संबंधित विभिन्न निति नियमों का विशेष महत्व होता है जिनमें गूर की टोपी पकड़ने का कार्य भी मुख्य रूप से परिलक्षित होता है। देव परंपरा के अनुरूप गूर अपने केश नहीं कटवाते तथा सदैव सिर ढककर रखते हैं केशों को खुला रखना भी वर्जित माना जाता है यह अनुशासन तथा देव-नियमों के प्रति प्रतिबद्धता का

द्योतक है। स्थानीय परंपरागत मान्यताओं के अनुसार गूर में देव शक्ति का पूर्ण आवेश उस समय माना जाता है जब वह अपने सिर पर धारण की गई टोपी को पीछे की ओर गिरा देता है। यह संकेत देव आवेश की चरम अवस्था का प्रतीक माना जाता है।[16] उस समय गूर की पीठ के पीछे टोपी को संभालने के लिए निश्चित व्यक्ति की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है जिसका प्रमुख दायित्व टोपी को सुरक्षित रूप से थामे का रहता है। अनेक स्थानों पर यह दायित्व भी परंपरागत रूप से किसी विशेष परिवार अथवा खानदान के व्यक्तियों को सौंपा जाता है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस उत्तरदायित्व का निर्वहन करते आए हैं।[17] इस संदर्भ में कोली समाज की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि अनेक देवस्थानों पर इस कार्य की जिम्मेदारी कोली समाज के चयनित परिवारों द्वारा परंपरागत रूप से निभाई जाती रही है। इस प्रकार टोपी पकड़ने की यह परंपरा पारंपरिक उत्तरदायित्व का निर्वहन को भी अभिव्यक्त करती है।

वाद्ययंत्रों का वादन

मानव जब अपने प्रथम चरण में था तब उसने अपने इर्द-गिर्द व्यापक प्राकृतिक स्वर लहरी के आधार पर ही लोकवाद्यों का निर्माण किया होगा। प्राचीन काल से ही मनुष्य किसी न किसी रूप में वाद्यों का प्रयोग करता आया है। जैसे-जैसे सभ्यता, संस्कृति में प्रगति आती गई है, वैसे-वैसे वाद्यों का आकार-प्रकार एवं प्रयोग में भी बदलाव आता रहा है।[18] देव परंपरा में लोक वाद्ययंत्रों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। वेद - शास्त्रों में भी शिव का वर्णन कैलाशपति के रूप में किया गया है। संगीत शास्त्रों में शिव को संगीत का जन्मदाता कहा गया है तथा शिव के डमरू को प्रथम वाद्य के रूप में शिव द्वारा अविष्कृत माना जाता है।[19] लोकवाद्य की परम्परा में डमरू का वादन आज के समय में भी देवी-देवताओं के मंदिरों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर है स्थानीय भाषा में इसे *ढैंकली, डकोली* तथा कई स्थानों पर *गुज्जू* के नाम से भी जाना जाता है मंदिरों में पूजा-अर्चना, देव रथ के नृत्य के समय तथा विभिन्न मांगलिक अवसरों पर बजाए जाने वाले *गुज्जू* अथवा *ढेंकली* को शिव के डमरु का प्रतीकात्मक रूप माना जाता है। इसके अतिरिक्त *बैंशी* (बांसुरी), *थाड़ी* तथा ढोलक जैसे वाद्ययंत्र भी देवकार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन वाद्ययंत्रों के समूह को सामान्यत:



छोटा बाजा अथवा 'पांज पजोर' कहा जाता है।[20]

इसके विपरीत बड़े बाजे के अंतर्गत ढोल, नगाड़ा, करनाल, नरसिंघा, भांणा, शहनाई तथा धोंस जैसे प्रमुख वाद्ययंत्र सम्मिलित होते हैं जिनका प्रयोग विशेषत: पूजा पाठ, देव अनुष्ठानों एवं यात्राओं के दौरान किया जाता है। देवकार्य के विभिन्न अवसरों जैसे देवपूजन, रथ की सज्जा, गूर में देवता के प्रकटीकरण, देवता के नृत्य, देवयात्रा तथा देवगीतों के गायन के समय इन वाद्ययंत्रों का वादन विभिन्न पारंपरिक तालों के अनुरूप किया जाता है। छोटे एवं बड़े वाद्ययंत्रों का वादन किस अवसर पर और किस ताल के अनुसार किया जाना है इसका समुचित ज्ञान 'भजंतरी' (देवता के लिए विशेष वाद्ययंत्र बजाने वाले मुख्य व्यक्ति) वर्ग को परंपरागत रूप से प्राप्त है। ढोल नगाड़े और रणसिंघे की आवाज के बीच ग्रामीण देवता के सम्मान में पारंपरिक नृत्य करते हैं जिसे कुल्लू और शिमला क्षेत्र में 'नाटी' कहा जाता है।[21] उल्लेखनीय है कि वाद्ययंत्रों के वादन की यह परंपरा कोली समाज में पीढ़ी-दर-पीढ़ी निरंतर चली आ रही है छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार के वाद्ययंत्रों का वादन प्राय: कोली समाज के सदस्यों द्वारा ही संपन्न किया जाता रहा है। वर्तमान समय में भी समुदाय के वरिष्ठ सदस्य नई पीढ़ी को समय-समय पर वाद्ययंत्रों के वादन का प्रशिक्षण प्रदान करते हैं, जिससे यह समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा निरंतर संरक्षित एवं संवर्धित होती रहे।



देव गीतों का गायन

इसी देवभूमि पर जितना पुराना लिखित वेद - शास्त्रों का प्राचीन इतिहास है उससे भी पुराना यहां का संगीत है, जिसका प्रयोग प्रभु भक्ति के लिए किया जाता रहा तथा आगे चलकर यह संगीत देव संगीत के नाम से आज भी अपना प्राचीनतम रूप सजोए हुए है। इसी संगीत को आगे चलकर लोक-संगीत की श्रेणी में माना जाने लगा।[22] देव परंपरा में देव गीतों के गायन की परंपरा कोली समाज की एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विशेषता के रूप में स्थापित है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी निरंतर रूप से संचारित होती आ रही है। स्थानीय मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक देव शक्ति से सम्बंधित प्राचीन देवगीत विद्यमान हैं इन गीतों में देवता का इतिहास, शक्ति, बल, पराक्रम, यात्रा का बखान सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया

जाता है। इनका गायन पारंपरिक वाद्ययंत्रों की मधुर ध्वनियों के साथ किया जाता है। इन देवगीतों के गायन से देवता प्रसन्न होकर नृत्य करते हैं उल्लेखनीय है कि अनेक देवगीत आज भी लिखित रूप में ना होकर मौखिक परंपरा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संरक्षित एवं प्रसारित होते रहे हैं।[23]

देवगीतों के संरक्षण, संवहन तथा प्रस्तुति की इस परंपरा को निरंतर बनाए रखने में कोली समाज की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। इन्हीं देव-गीतों की समृद्ध परंपरा में कुल्लू जिला के निरमण्ड क्षेत्र के अंतर्गत स्थित एक लघु ग्राम में प्रतिष्ठित माता कोयला कैलाशनी से संबंधित एक प्राचीन देव-गीत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस गीत का गायन कोली समाज के बुजुर्गों द्वारा आज भी नित्य-प्रति श्रद्धा और परंपरागत विधि के साथ किया जाता है। स्थानीय मान्यताओं के अनुसार इस गीत के गायन के दौरान देवी की उपस्थिति का आध्यात्मिक अनुभव किया जाता है तथा माता की प्रसन्नता के प्रतीक रूप में पारंपरिक नृत्य भी संपन्न होता है। प्रस्तुत गीत इस प्रकार है।

माता कोयला कैलाशनी का गीत

'सरगा बोला इंद्र देअ राजा ग सरगा बोला इंद्र देअ राजा
पैंईयै ताड़ै बासकु नागा ग पैंईयै ताड़ै वासकु नागा
माता ड़ोगै काँसे केरौ राजा ग माता ड़ोगै कांसा केरो राजा
कांसें राजै लाई कुआदा ग कांसें राजै लाई कुआदा
उल्टी देया सुड़टी लैया ग उल्टी देया सुड़टी लैया
ताटू तुड़े कपुटा करा ग ताटू तूड़े कपुटा करा
बांडी गऊऐ दुधा लैया दुधा ग बाडी गऊऐ दुधा लैया दुधा
शा बुंइयै बेड़ लैया बासा ग शा बुंइयै बेड़ लैया बासा
शुकै बुटै टोर लैया टोरा ग शुकै बुटै टोर लैया टोरा
देऊ नाअ कागाड़ी बोंड़े ग देऊ नाअ कागाड़ी बोंड़े
तिदा आंड़ी कुडू करे सांड़ा ग तिदा आंडी कुडू करे सांड़ा
तेतअ सैगअ चतुरा जमाड़ां ग तेतअ सैगअ चतुरा जमांड़ा'[24]

'बड़ा फेरी छत्र' उठाना -

देव परंपरा में बड़ा फेरी छत्र का विशेष धार्मिक एवं प्रतीकात्मक महत्व माना जाता है जो सामान्यत: देव रथ के अग्रभाग में चलाया जाता है। अलग-अलग स्थान पर इस छत्र का आकार, इसके निर्माण में प्रयोग होने वाली लकड़ी, कपड़े पर उकेरी गई आकृतियां

अलग-अलग होती है फेरी छत्र का ढांचा प्राय: *बैंजो* (बांस) की लकड़ी से निर्मित होता है तथा इसके ऊपर लगभग नौ मीटर कपड़े का आवरण लगाया जाता है। इस कपड़े पर विभिन्न धार्मिक एवं पौराणिक प्रतीकों जैसे हनुमान, शिव, राम, रावण तथा अष्टभुजी माता सहित अन्य जीव-जंतुओं, सर्प आदि के चित्र हस्तनिर्मित सिलाई के माध्यम से उकेरे जाते हैं[25] जो इसकी धार्मिक-सांस्कृतिक महत्ता को अभिव्यक्त करते हैं। लगभग 45 किलोग्राम भार वाले इस छत्र को धारण करने तथा संचालित करने के लिए छत्रवाहक व्यक्ति गले में कपड़े की विशेष पट्टी (बेल्ट) धारण करता है जिसमें लगी पक्की लकड़ी के बने खोरे में छत्र के डंडे को स्थिर कर नियंत्रित ढंग से घुमाया जाता है। फेरी छत्र बाण को रोकता है बाण यानी किसी बुरी शक्ति का प्रभाव, किसी में खेल आ जाना। फेरी छत्र रथ और उसके साथ चलने वाले देऊलुओं की रक्षा करता है।[26] अनेक क्षेत्रों में इस फेरी छत्र को उठाने का दायित्व परंपरागत रूप से कोली समाज के निश्चित परिवारों को सौंपा गया है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस उत्तरदायित्व का निर्वहन करते हुए देव परंपरा की निरंतरता और संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते आ रहे हैं।


बड़ा फेरी छत्र

देव संस्थान में भूमिका

देव संस्थान की संरचना के अंतर्गत देवालय, भंडारगृह, देवता से संबंधित भूमि तथा वन क्षेत्र आदि महत्वपूर्ण अवयव सम्मिलित होते हैं जिनका धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्व होता है। इन संसाधनों के समुचित संचालन एवं क्रियान्वयन के लिए मंदिर कमेटी की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। देव समाज समन्वयनात्मक संगठन है। इसमें समाज के सभी जन रहते हैं जबकि उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न होती है।[27] भिन्नता के बावजूद भी सभी समाजों के मध्य कोली समाज की भूमिका भी अहम है। देवालय, भंडारगृह तथा मंदिर परिसर से संबंधित निर्माण कार्यों में नियमित आर्थिक सहयोग प्रदान करने के साथ-साथ श्रमदान के माध्यम से भी कोली समाज सक्रिय सहभागिता निभाता रहा है।

इसके अतिरिक्त मंदिर कमेटी के अंतर्गत 'कराअक' जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद का निर्वहन भी प्राय: कोली समाज के व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिनका प्रमुख कार्य

पारंपरिक वाद्ययंत्रों के रख-रखाव तथा देवकार्य के अवसरों पर भजंतरियों का समुचित संगठन एवं संचालन सुनिश्चित करना होता है।[28] स्थानीय मेलों, धार्मिक अनुष्ठानों तथा विभिन्न देवकार्य संबंधी आयोजनों में भी कोली समाज की सक्रिय एवं सहयोगात्मक सहभागिता देव परंपरा के संरक्षण और निरंतरता में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करती है।

निरंतरता और परिवर्तन

देव परंपरा के संदर्भ में देवकार्य एवं देव संस्थान से संबंधित विभिन्न गतिविधियों में कोली समाज की भूमिका वर्तमान समय में भी निरंतर रूप से दृष्टिगोचर होती है। निरंतरता के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो आज भी गूर का चयन परंपरागत रूप से कोली समाज के सदस्यों में से ही किया जाता है जो इस समुदाय की स्थायित्वशीलता को दर्शाता है। इसके अतिरिक्त पारंपरिक वाद्ययंत्रों का वादन, देवगीतों का गायन, फेरी छत्र का वहन, तथा देव संस्थान के अंतर्गत मंदिर कमेटी में सहभागिता जैसे विभिन्न दायित्वों का निर्वहन भी कोली समाज द्वारा निरंतर किया जा रहा है। देवालयों के निर्माण एवं पुनर्निर्माण संबंधी कार्यों में आर्थिक सहयोग एवं श्रमदान के माध्यम से उनकी सक्रिय भागीदारी इस परंपरा की निरंतरता को सुदृढ़ आधार प्रदान करती है।

परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि समय के साथ देव परंपरा एवं देवकार्य से संबंधित गतिविधियों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अनेक स्थानों पर कोली समाज द्वारा पारंपरिक वाद्ययंत्रों के वादन ना कर पाने की दशा में परंपरा क्रमशः क्षीण होती जा रही है, जबकि कुछ क्षेत्रों में देवगीतों के अध्ययन एवं अभ्यास में घटती रुचि के कारण यह मौखिक परंपरा लुप्तप्रायः स्थिति की ओर अग्रसर दिखाई देती है। नई पीढ़ी का देव परंपरा एवं रीति-रिवाजों के प्रति अपेक्षाकृत कम झुकाव भी परिलक्षित होता है।[29] देव परंपरा के अंतर्गत निहित अनुशासनात्मक नियमों एवं आचार-संहिताओं को पूर्णतः स्वीकार ना कर पाना भी इस दूरी के प्रमुख कारणों में से एक माना जा सकता है। इन समस्त कारणों के परिणामस्वरूप देव परंपरा की संरचना एवं क्रियान्वयन में समय-समय पर विभिन्न प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होते रहे हैं।

निष्कर्ष

यह कहा जा सकता है कि देवकार्य एवं देव संस्थान के संचालन और संरक्षण में सर्व समाज की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। इसी क्रम में कोली समाज का योगदान भी अत्यंत उल्लेखनीय एवं अविस्मरणीय है। परंपरागत व्यवस्था के अंतर्गत कोली समाज को

प्राप्त विभिन्न दायित्वों का निर्वहन इस समुदाय द्वारा निरंतर निष्ठा एवं सक्रिय सहभागिता के साथ किया जाता रहा है जिसके परिणामस्वरूप पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस परंपरा की निरंतरता बनी हुई है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि समय के साथ सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक एवं आवश्यक प्रक्रिया है, अत: देव परंपरा से संबंधित सामाजिक दायरों, नीतियाँ एवं व्यवहारगत नियमों को वर्तमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य के अनुरूप डालना चाहिये। ताकि देव परंपरा की मूल भावना को सुरक्षित रखा जा सके।

संदर्भ

1. मुकेश शर्मा, *भारतीय ज्ञान परंपरा में हिमाचल प्रदेश का अवदान* (भाग- 1), देवयानी पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स दिल्ली, 2025, पृ.4
2. *हिमभारती,* त्रैमासिक पत्रिका, जून-सितम्बर 1981, सम्पादकीय (मौलू राम ठाकुर), पृ. 2
3. अखिलेश पाठक, *देवभूमि की आत्मा हिमाचल प्रदेश की लोक संस्कृति, संगीत, कला और उत्सवों की एक समग्र यात्रा,* सतलुज प्रकाशन पंचकुला, 2026, पृ.12
4. अमर देव अंगिरस, *हिमाचली पितृदेव एवं कुल देवता (देव गाथाओं पर शोधपूर्ण विवेचन),* आभी प्रकाशन, डिजाइन इंडिया, पावर हाउस, न्यू टुटू, शिमला, 2024, पृ.21
5. साक्षात्कार: मनी राम जी, आयु 78 वर्ष, गांव खोगवा, डाकघर दुराहा, उपतहसील नीथर, जिला कुल्लू, (हि.प्र.) 13/01/2025
6. साक्षात्कार: सोनी राम राठी जी, आयु 71 वर्ष, गांव व डाकघर दलाश, तहसील आनी, जिला कुल्लू (हि.प्र.) 24/02/2025
7. साक्षात्कार: गुलाब चन्द जी, आयु 71 वर्ष, गांव निन्था, उपतहसील व डाकघर नीथर, जिला कुल्लू (हि.प्र.) 22/02/2025
8. मुकेश शर्मा, *भारतीय ज्ञान परंपरा में हिमाचल प्रदेश का अवदान* ,(भाग- 1), पृ.5
9. साक्षात्कार: भूरा राम जी, आयू 80 वर्ष, गांव चेबड़ी, डाकघर व उपतहसील नीथर, जिला कुल्लू (हि.प्र.) 22/02/25
10. साक्षात्कार: चुन्नी लाल जी, आयु 75 वर्ष, गांव व डाकघर दलाश, तहसील

आनी, जिला कुल्लू (हि.प्र.) 24/02/2025

11. लाल चन्द प्रार्थी, *कुलूत देश की कहानी,* नीलकमल प्रकाशन कुल्लू, 1971, पृ.156
12. साक्षात्कार: चूड़ा राम जी, आयु 64 वर्ष, गांव छाबोग, डाकघर शिवान, तहसील कुमारसैन, जिला शिमला, (हि.प्र.) 29/04/2025
13. साक्षात्कार: गोपी राम जी, आयु 78 वर्ष, गांव खोगवा, डाकघर दुराहा, उपतहसील नीथर, जिला कुल्लू, (हि.प्र.) 11/01/2026
14. साक्षात्कार: बदी राम नेगी जी, गांव नांनण, डाकघर ज्यूरी, तहसील सराहन, जिला शिमला, (हि.प्र.) 14/04/2025
15. सुदर्शन वशिष्ठ, *देव परंपरा,* सुहानी बुक्स प्रीत विहार, दिल्ली, 2017, पृ.10
16. साक्षात्कार: सोहन लाल जी, आयु 71 वर्ष, गांव गढ़मूट, डाकघर दुराहा, उपतहसील नीथर, जिला कुल्लू, (हि.प्र.) 13/02/2025
17. साक्षात्कार: जीणू राम जी, आयु 83 वर्ष, गांव जामू झाकड़, डाकघर कोयल, उपतहसील नीथर, जिला कुल्लू, (हि.प्र.) 21/02/2026
18. सूरत ठाकुर, *हिमाचल के लोकवाद्य,* अभिषेक पब्लिकेशन्ज एस.सी.ओ. 157-159, सेक्टर - 17 चंडीगढ़, 1996, पृ.17
19. नंद लाल गर्ग, *हिमाचल के प्राचीनतम संगीत वाद्य,* संगीत नाटक अकादमी कनिष्क पब्लिशर्स-डिस्ट्रीब्यूटर्स नई दिल्ली, 2009, पृ.10
20. साक्षात्कार: सुन्दर लाल जी, आयु 73 वर्ष, गांव गंछवा, डाकघर दलाश, तहसील आनी, जिला कुल्लू, (हि.प्र.) 01/03/2026
21. अखिलेश पाठक, पूर्वोक्त, पृ.96
22. नंद लाल गर्ग, पूर्वोक्त, पृ.9
23. साक्षात्कार: हरीश भारती जी, आयु 55 वर्ष, गांव कवाला, डाकघर भरैड़ी, तहसील कुमारसैन, जिला शिमला, (हि.प्र.) 30/04/2025
24. साक्षात्कार: लगन दास जी, आयु 77 वर्ष, गांव शाड़ीधार, डाकघर कोयल, उपतहसील नीथर, जिला कुल्लू, (हि.प्र.) 03/05/2025
25. साक्षात्कार: आमला देवी जी, आयु 60 वर्ष, गांव छबोग, डाकघर शिवान, तहसील कुमारसैन, जिला शिमला, (हि.प्र.) 29/04/2025
26. बारू राम ठाकुर, कर्म सिंह, *हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर,* भाग-1, देवयानी पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स दिल्ली, 2024, पृ.375

27. मुकेश शर्मा, *भारतीय ज्ञान परंपरा में हिमाचल प्रदेश का अवदान*, भाग–1, पृ.20
28. साक्षात्कार: मदन लाल जी, आयु 57 वर्ष, गांव खोगवा, डाकघर दुराह, उपतहसील नीथर, जिला कुल्लू, (हि.प्र.) 01/04/2026
29. साक्षात्कार: प्रेम नाथ शास्त्री जी, आयु 66 वर्ष, गांव खलंगा, डाकघर व उपतहसील कोटगढ़, जिला शिमला, (हि.प्र.) 26/04/2025

शोधार्थी *
इतिहास विभाग
केंद्रीय विश्वविद्यालय हिमाचल प्रदेश,
सप्त सिंधु परिसर देहरा (हि.प्र.)
एवं
सीनियर फेलो **
प्रधानमंत्री संग्रहालय और पुस्तकालय
नई दिल्ली